।। दंसण मूलो धम्मो।।

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

सम्पादक : रामजी माणेकचन्द दोशी वकील

वर्ष छठवाँ
अंक नववाँ

६९

पौष
२४७७

बाह्य प्रवृत्ति की मिठास

बाह्य मान्यता ने घर कर लिया है, इससे जीवों की लौकिक प्रवृत्ति में मिठास मालूम होती है, और पुण्य-पापरहित शुद्ध आत्मधर्म की मिठास का अनुभव नहीं होता; प्रत्युत, वैसी बात सुनकर बाह्यदृष्टि जीव निन्दा और द्वेष करते हैं। सब स्वतन्त्र हैं, संसार अनन्तकाल तक रहना है।

(समयसार-प्रवचन से)

एक अंक
चार आना

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

जैन स्वाध्यायमन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

इस अंक के लेख

१- धर्मी का कार्य क्या और अधर्मी का कार्य क्या?
२- मुक्ति का उपायः भेद-ज्ञान
३- सुवर्णपुरी में मंगल-प्रवचन
४- अज्ञानियों का निष्फल मिथ्या अभिप्राय
५- चल भंवरे गुलाब की सुगन्ध लेने
६- सुख
७- श्री शत्रुंजय सिद्धक्षेत्र की यात्रा

तत्त्व-निर्णय

अनेक लोग ऐसा कहते हैं कि 'तत्त्व-निर्णय इस काल में नहीं हो सकता।' परन्तु उनकी यह मान्यता बिल्कुल मिथ्या है। तत्त्व-निर्णयरूप धर्म तो आठ वर्ष का बालक या वृद्ध, रोगी या निरोगी, धनवान या निर्धन और सुक्षेत्री या कुक्षेत्री—आदि सर्व अवस्था और सर्व काल में प्राप्त होने योग्य है। जो तत्त्व-निर्णय नहीं करते, उनके पूजा, स्तोत्र, दर्शन, त्याग, तप, वैराग्य, संयम, सन्तोष आदि सब कार्य असत्य हैं; इसलिए सत्य आगम का सेवन, युक्ति का अवलम्बन, परम्परा गुरुओं का उपदेश और स्वानुभव द्वारा तत्त्व-निर्णय अवश्य करना ही चाहिए।

सम्यग्दर्शन—वह धर्म का पहला कदम है और वह तत्त्व-निर्णय के बिना हो ही नहीं सकता। इसलिए ज्ञानियों ने उसे प्राप्त करने के लिए खास आग्रह किया है।

मात्र कुलधर्म द्वारा मान्यता करने से—चाहे वह भले ही सच्चे वीतरागदेव की हो तथापि जीव का गृहीत मिथ्यात्व नहीं जाता और गृहीत मिथ्यात्व गये बिना अनादि से चला आ रहा, अगृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं होता। इसलिए गृहीत मिथ्यात्व का स्वरूप और उसे मिटाने का उपाय समझना चाहिए। मुमुक्षु जीव अपना संसार की ओर का राग बदलकर सत्देव, सत्गुरु और सत्शास्त्र को पहचानकर उनकी ओर न ले जाये, वहाँ तक उसका गृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं होता। गृहीत मिथ्यात्व दूर हुए बिना किसी भी प्रकार धर्म का प्रारम्भ कहाँ से हो?

पौष
२४७७

आत्मधर्म

वर्ष छठवाँ
अंक–९

धर्मी का कार्य क्या और अधर्मी का कार्य क्या?

[राजकोट शहर में पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय, फाल्गुन शुक्ला ९ वीं के दिन जन्म-कल्याणक प्रसंग पर पूज्य कानजीस्वामीजी का प्रवचन]

(समयसार गाथा–७१)

यह कर्ता-कर्म अधिकार है। आत्मा कर्ता है; वह क्या कार्य करे तो उसे धर्म हो और क्या कार्य करे तो अधर्म हो? यह बात चल रही है। कर्ता का अर्थ है होनेवाला, परिणमन करनेवाला; और कर्म का अर्थ है कर्ता का कार्य, परिणाम। किसी भी आत्मा में पर का कार्य करने की शक्ति नहीं है। आत्मा पर का कुछ नहीं कर सकता; क्योंकि जड़ या चेतन सभी तत्त्व अनादि-अनन्त स्वयं सिद्ध स्वयं अपनी अवस्था में परिवर्तित हो रहे हैं। जगत् में प्रत्येक रजकण की क्रिया स्वतन्त्र अपने आप हो रही है। आत्मा, शरीर को चला नहीं सकता और स्थिर भी नहीं रख सकता भाषा नहीं बोल सकता, कर्म नहीं बाँध सकता, पर जीव को मार या बचा नहीं सकता, सुखी-दुःखी नहीं कर सकता, उसे लाभ या हानि नहीं कर सकता। जीव अपनी अवस्था में मात्र शुभ-अशुभ या शुद्धभाव कर सकता है। जीव एक दूसरे को सुखी-दुःखी करता है, शरीरादि की क्रिया मैं करता हूँ–ऐसा अज्ञानी ने अनादि से माना है, लेकिन वैसा नहीं हो सकता। पर को सुखी-दुःखी करने की शक्ति किसी में है ही नहीं। इस जगत में प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक रजकण स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न है। कोई तत्त्व एक-दूसरे पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकता।

आत्मा है, वह अपने स्वरूप के सद्भावरूप और दूसरे अनन्त आत्मा और जड़ पदार्थों के अभावरूप से टिका हुआ है। इस प्रकार प्रत्येक तत्त्व दूसरे अनन्त पदार्थों के अभाव से टिका हुआ है। एक द्रव्य के स्वरूप के बाहर ही दूसरे द्रव्य लौट रहे हैं, कोई द्रव्य किसी द्रव्य में प्रविष्ट नहीं हो जाता; इसलिए एक पदार्थ में दूसरे अनन्त तत्त्व कुछ भी करें–ऐसा त्रिकाल में नहीं बनता। वस्तु के द्रव्य-गुण तो त्रिकाल एकरूप हैं, इसलिए उनमें कुछ करना नहीं है। यहाँ द्रव्य-गुण की

बात नहीं है; लेकिन पर्याय की बात है; पर्यायें नवीन-नवीन होती हैं, वे द्रव्य के आधार से ही होती हैं। नवीन-नवीन पर्यायें निमित्त के कारण होती हैं—ऐसा अज्ञानी का भ्रम है। एक द्रव्य की वर्तमान अवस्था दूसरे द्रव्य की वर्तमान अवस्था में कुछ करती है—यह बात अज्ञानी ने मान रखी है; वस्तुस्वरूप वैसा नहीं है।

देखो, भगवान के प्रतिष्ठामहोत्सव के समय यह गाथा आयी है, यह आत्मा में मंगलदशा का महोत्सव प्रगट करे ऐसी है। जो समझले उसके आत्मा में मंगल-दशारूपी महोत्सव प्रगट हो। आज भगवान के जन्मकल्याणक का प्रसंग है; यह सीमन्धर भगवान की मूर्ति जयपुर से यहाँ आयी है, इस मूर्ति को जयपुर से यहाँ लाने की क्रिया किसी आत्मा ने नहीं की है, लेकिन उस पदार्थ के स्वकाल से उसका क्षेत्रान्तर हुआ है। मूर्ति के प्रत्येक रजकण का उसकी स्वतन्त्र योग्यता के सामर्थ्य से क्षेत्रान्तर हुआ है, आत्मा उसकी क्रिया नहीं करता। आत्मा तो अपने ज्ञाता वीतरागी स्वभाव को चूककर—'यह जड़ की क्रिया मैं करता हूँ और राग का मैं कर्ता हूँ'—ऐसा मानकर अपने मिथ्याभाव को उत्पन्न करता है। यह अज्ञानी का कार्य है। और धर्मी-ज्ञानी जीव हो तो वह पर की क्रिया मैं करता हूँ—ऐसा नहीं मानता, तथा क्षणिक राग हो, उसका कर्तत्व भी स्वभावदृष्टि में स्वीकार नहीं करता; स्वभावदृष्टि से निर्मल पर्याय प्रगट होती है—उसी का वह कर्ता है।—यह ज्ञानी का कार्य है।

आत्मा, जड़ का या पर का कुछ कर सकता है—यह मान्यता स्थूल अज्ञान है। यहाँ तो यह मान्यता छूट जाने के पश्चात् की बात है। विकार मेरा कार्य और मैं उसका कर्ता—इस प्रकार जो विकार के साथ आत्मा कर्ता-कर्मपना स्वीकार करे, वह भी अज्ञानी है। आत्मा ज्ञायकमूर्ति निर्विकार है, वह विकार का कर्ता नहीं है—ऐसा समझाने के लिए यहाँ आचार्यदेव ने उस विकार को पुद्गल का परिणाम कह दिया है।

आत्मा में जो राग-द्वेषादि विकारीभाव होते हैं, वे कहीं अजीव नहीं हैं, और वे अजीव में होते नहीं हैं, किन्तु आत्मा की ही अवस्था में होते हैं; तथापि यहाँ उन्हें आत्मा से अन्य वस्तु कहा है, क्योंकि वे विकारीभाव जड़ के लक्ष्य से होते हैं। धर्मी की दृष्टि आत्मा के स्वभाव पर है और उस स्वभाव में से विकारभाव नहीं आते, इसलिए उन्हें जड़-पुद्गल परिणाम कहकर आत्मा से अन्य वस्तु कहा गया है। लेकिन वे परिणाम कहीं पुद्गल में नहीं होते और कर्म भी नहीं कराता; वे आत्मा की पर्याय में होते हैं, लेकिन यहाँ वह पर्यायबुद्धि छुड़ाने के लिए उन्हें आत्मा से अन्य कहा है।

जैसे—फुलझड़ी में से चिंगारियाँ झरती हैं, कहीं कोयले के टुकड़े नहीं झरते; उसी प्रकार

चैतन्य पिण्ड आत्मा में से तो ज्ञान-दर्शन के अरागीभाव ही प्रगट होते हैं–ऐसा उसका स्वभाव है। लेकिन अज्ञानी को उसकी रुचि नहीं है, इसलिए बाह्य की रुचि द्वारा वह अपनी अवस्था में विकारभाव प्रगट करता है और उसका कर्ता होता है। धर्मी जीव, स्वभाव की रुचि में विकार का कर्ता नहीं होता। सम्यग्दर्शन का विषय तो पुण्य-पाप से अन्य वस्तु है; जो पुण्य-पाप की वृत्तियाँ होती हैं, वह सम्यग्दर्शन के विषयभूत चैतन्य का स्वभाव नहीं है; इसलिए परमार्थ से वे विकारी वृत्तियाँ आत्मा से अन्य हैं।

ऐसे आत्मा के स्वभाव का भान होने से, विकार के साथ भी कर्ताकर्मपना छूटकर आत्मा निर्मल वीतरागी अवस्था का कर्ता हो, उसका नाम धर्मक्रिया है। इसके अतिरिक्त भगवान के पंचकल्याणक कराये और उनसे आत्मा का कल्याण मान ले, उसे आत्मा का भान नहीं है। बाह्य क्रियाएँ तो जड़ से होती हैं, और शुभराग हो, वह विकार है; उस विकार का मैं कर्ता और वह मेरा कार्य–ऐसा माने, वह भी अधर्मी है। पर की ओर का–भगवान की ओर का शुभराग भी विकार है; जिस जीव को उस राग की रुचि और उत्साह है, किन्तु शुद्धात्मा की रुचि का अभाव है, उसे आचार्य भगवान समझाते हैं कि–पुण्य-पाप, आत्मा के स्वभाव से अन्य वस्तु हैं; क्योंकि यदि अन्य न हों तो वे दूर होकर कभी रागरहित सिद्धदशा न हो। सिद्धदशा में पुण्य-पाप के भाव नहीं होते, इसलिए वे भाव आत्मा का यथार्थ कर्तव्य नहीं है।

अनन्तबार त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्कर भगवान के पास गया और उनके ऐसे उपदेश का श्रवण किया, लेकिन शूरवीर के बेटे ने अपनी विपरीत मान्यता को नहीं छोड़ा; अन्तर में से पुण्य की रुचि और उसकी कर्तत्वबुद्धि दूर नहीं हुई और आत्मस्वभाव की रुचि नहीं हुई। इससे अपनी विपरीत दृष्टि से विकार की उत्पत्ति हुई और संसार में भटकता फिरा। 'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि।' सृष्टि अर्थात् उत्पत्ति; जैसी दृष्टि हो, वैसी पर्याय की उत्पत्ति होती है। यदि शुद्ध चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि हो तो पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धता की उत्पत्ति होती है, और यदि विकार पर दृष्टि हो तो पर्याय में मिथ्यात्वादि विकार की उत्पत्ति होती है।

जिसे विकाररहित अखण्ड चैतन्यस्वभाव का भान नहीं है और विकार का मैं कर्ता-विकार ही मैं हूँ;–ऐसी विकारबुद्धि है, उससे वह विकारबुद्धि छुड़ाने और स्वभावदृष्टि कराने के लिए कहते हैं कि हे भाई ! तू क्षणिक विकार के कर्ताकर्म की बुद्धि छोड़। तेरा स्वभाव क्षणिक विकार जितना नहीं है। प्रथम अपने यथार्थ वस्तुस्वभाव को ध्यान में लेना चाहिए, उसकी रुचि और विश्वास करना चाहिए। यथार्थ वस्तु के भान बिना ज्ञान को कहाँ स्थिर करेगा? और किसकी शरण लेकर धर्म करेगा?

निचलीदशा में धर्मी को भी पुण्य-पाप के भावों की उत्पत्ति होती है, परन्तु उसे उनकी मुख्यता भासित नहीं होती। स्वभाव की मुख्यता की दृष्टि में विकार का अभाव ही भासित होता है; स्वभावोन्मुखता की मुख्यता हटे तो साधकदशा नहीं रहती। यदि एक समय भी स्वभावोन्मुखता की मुख्यता हटकर विकार की मुख्यता हो तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। शुभराग की उत्पत्ति के समय यदि पुण्य की ही मुख्यता भासित हो और स्वभाव की मुख्यता न भासे तो उसे स्वभाव से अन्य वस्तु की अर्थात् जड़कर्म की उत्पत्ति होती है। धर्मी जीव के उस राग की अल्पता को गौण करके त्रिकाली शुद्धस्वभाव की मुख्यता है, वह सम्यग्दर्शन है, और स्वभाव की मुख्यता में उसे प्रतिक्षण निर्मलदशा की उत्पत्ति होती रहती है,—वह धर्मी का धर्म-कर्तव्य है। छहखण्ड का राज्य और छियानवें हजार रानियों के समूह में पड़े हुए सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती को एक क्षण भी स्वभाव की मुख्यता नहीं हटती और न विकार की मुख्यता होती है। वर्तमान किसी पर्याय में से, 'मैं शुद्धस्वभावी हूँ'—ऐसी स्वभावोन्मुखता एक क्षण भी नहीं हटती, इससे प्रतिसमय उनको निर्मल पर्याय की उत्पत्तिरूप धर्म होता है। इस प्रकार आत्मा और आस्रवों का अन्तर देखने से ही अर्थात् भेदविज्ञान से ही धर्म होता है।

मैं क्षणिक राग जितना नहीं हूँ, परन्तु रागरहित ज्ञातास्वरूप हूँ—ऐसी वृत्ति में स्वभावसन्मुख दृष्टि होने से विकार की मुख्यता भासित न हो, वह सम्यग्दर्शन है। पहले पात्र होकर अन्तरङ्ग स्वीकृतिपूर्वक इस बात का बारम्बार श्रवण करना चाहिए। हे जीव! सत्समागम से सत्य का श्रवण करके एकबार यथार्थ रुचिपूर्वक हाँ कह! सत्य स्वभाव की 'हाँ' कहते-कहते, उसकी 'लत' लगने से हाँ में से हालत (दशा) हो जायेगी। जैसा अपना स्वभाव है, उसकी रुचि करके हाँ कहने से वैसी हालत (दशा) प्रगट हो जायेगी। सत्यस्वभाव का स्वीकार कर तो सिद्धदशा होगी, और उसका अस्वीकार करके अनादर करने से नरक-निगोददशा होगी। सत्य वस्तुस्वभाव को लक्ष्य में लेकर उसकी रुचि से स्वीकार करने में भी अपूर्व पात्रता है।

क्रोधादि अशुभभाव अथवा दयादि शुभभाव—वे दोनों आस्रव हैं, जीव के स्वभाव से भिन्न हैं। मैं शरीरादि पर का कर्ता हूँ—यह बुद्धि तो अत्यन्त स्थूल अज्ञान है, परन्तु मैं क्रोधादि विकार का कर्ता और वे क्रोधादि मेरे कर्म—ऐसी कर्ता-कर्म की बुद्धि भी अज्ञान से उत्पन्न होती है; अज्ञानी के ऐसी कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति अनादि से चली आ रही है—वही अधर्म और संसार का मूल है। वह कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति कब दूर होती है—वह बात यहाँ आचार्यदेव ने समझायी है। क्रोधादिक भावों को और आत्मा को निश्चय से एक वस्तुपना नहीं है,—दोनों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है। इस प्रकार जीव जब आस्रव और आत्मा का भेदज्ञान करता है, तब अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति निवृत्त होती है।

क्रोधादिभाव आत्मा से भिन्न वस्तु है; इस प्रकार यहाँ क्रोधादि-भावों की भी 'वस्तु' क्यों कहा? क्योंकि उन क्रोधादि अवस्थाओं में वीतरागी अवस्था की नास्ति है, उस एक अवस्था में दूसरी अनन्त अवस्थाओं की नास्ति है और उस अवस्था का अपनेरूप से अस्ति है,–ऐसा उसका अस्ति-नास्ति स्वभाव है, इससे वह भी वस्तु है। वह त्रिकाली द्रव्यरूप वस्तु नहीं है, परन्तु क्षणिक पर्यायरूप वस्तु है। विकार-विकाररूप है और स्वभावरूप नहीं है, पूर्व की या पीछे की अवस्थारूप नहीं है, जड़कर्मरूप नहीं है; इसलिए अपने स्वरूप से उस विकार को अस्ति और दूसरे अनन्त पदार्थोंरूप से नास्ति–ऐसे अनन्त धर्म उसमें सिद्ध हुए। एक द्रव्य के अनन्तगुण हैं, और उस एक-एक गुण की अनन्त पयायें हैं, उस एक-एक पर्याय में अनन्त अविभागप्रतिच्छेद हैं और एक-एक अविभागप्रतिच्छेद अंश में दूसरे अनन्त अविभाग अंश की नास्ति है, इसलिए एक-एक अविभाप्रतिच्छेद अंश में अनन्त अस्ति-नास्ति धर्म है।

यहाँ आत्मा का और क्रोधादिक आस्रवों का भिन्न-भिन्न स्वभाव बतलाकर आस्रवों को आत्मा से भिन्न वस्तु सिद्ध की है; इसलिए इस प्रकार जानकर आत्मा के स्वभाव की ओर उन्मुख होने से आस्रवों का निषेध हो जाता है। आत्मा के स्वभाव की ओर उन्मुख होने से विकार का नाश करना नहीं पड़ता किन्तु हो जाता है। स्वभावदृष्टि में आत्मा विकार का कर्ता नहीं है, और न उसका छोड़नेवाला भी है। आत्मा पर का ग्रहण -त्याग तो करता नहीं है, लेकिन वास्तव में विकार का भी ग्रहण-त्याग आत्मा के स्वभाव में नहीं है। प्रत्येक आत्मा में 'त्यागोपादान-शून्यत्व' नाम की शक्ति त्रिकाल है, इससे आत्मा स्वभाव से विकार का ग्रहण या त्याग नहीं करता। मैं विकार का कर्ता हूँ–ऐसी जिसकी बुद्धि है, वह तो मिथ्यादृष्टि है ही; लेकिन, मैं विकार को छोड़ता हूँ–ऐसी जिसकी बुद्धि है, वह भी पर्यायमूढ़ मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि 'मैं विकार को छोड़ता हूँ'–ऐसे लक्ष्य से विकार नहीं छूटता, किन्तु विकार की उत्पत्ति होती है; तथापि उसे विकार को टालने का उपाय मानता है, वह जीव पर्यायबुद्धि है। विकार को मैं दूर करूँ–ऐसे लक्ष्य से भी विकार की उत्पत्ति ही होती है, और वह जीव मानता है कि मैं विकार को दूर करता हूँ, इससे उसने विकार के लक्ष्य से लाभ माना है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है। परन्तु विकार से भिन्न मेरा चैतन्यस्वभाव है–इस प्रकार ज्ञान द्वारा भेद करके आत्म-स्वभावोन्मुख होने से विकार की उत्पत्ति ही नहीं होती। स्वभावोन्मुख होने से आत्मा और विकार की भिन्नतारूप परिणमन सहज ही होता जाता है।

धर्मी जीव राग को जानता है, लेकिन 'राग है, वह मैं हूँ'–इस प्रकार राग का कर्ता नहीं होता। रागसन्मुख होकर राग को नहीं जानता, परन्तु स्वभावसन्मुख रहकर राग को जान लेता है। स्वोन्मुख होनेपर स्व को और विकार को–पर को जाने–ऐसी स्व-पर प्रकाशक ज्ञाताशक्ति प्रगट

होती है; इससे उसमें पर का ज्ञान हो जाता है, परसन्मुख होकर पर को जानने नहीं जाता।

देखो! इसमें अनेक न्याय आ जाते हैं। स्वसन्मुख होने से जो स्व-पर-प्रकाशक ज्ञान विकसित हुआ, वह स्व को जानते हुए, पर निमित्त कैसे थे–सच्चे देव-गुरु-शास्त्र कैसे होते हैं–उन्हें भी यथार्थरूप से जान लेता है।

श्री पद्मनन्दि आचार्य कहते हैं कि –

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन, येन वार्ताऽपि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भविनिर्वाणभाजनम्॥

जिस जीव ने प्रसन्नचित्त से आत्मस्वभाव की बात भी सुनी है, वह जीव भविष्य में होनेवाली मुक्ति का अवश्य भाजन होता है। यहाँ श्रुता अर्थात् सुनी है–ऐसा कहने में सूक्ष्म न्याय है। सुनना कहने से, सुनानेवाला निमित्त कैसा होता है–उसका ज्ञान भी आ जाता है। स्वयं जागृत होकर भान करे, वहाँ सामने कौन सा निमित्त था, कैसे देव-गुरु-शास्त्र निमित्तरूप से हो सकते हैं–उसका भी यथार्थ भान हुए बिना नहीं रहता। ऐसा स्व-पर-प्रकाशक ज्ञानस्वभाव है।

देखो भाई! यह बात सूक्ष्म है, लेकिन इसे समझने की शक्ति प्रत्येक जीव में भरी है। प्रत्येक आत्मा सिद्ध भगवान जैसा है। उसका विश्वास लाकर रुचिपूर्वक श्रवण और मंथन करन चाहिए। 'मेरी समझ में नहीं आयेगा'–ऐसी पुरुषार्थहीन मान्यता छोड़ देना चाहिए। भगवान आचार्यदेव ने समयसार की पहली गाथा में ही आत्मा में सिद्धत्व स्थापित किया है कि, मैं सिद्ध हूँ और तू–सुननेवाला भी सिद्ध है। हम तेरे ज्ञान में, तेरे आत्मा का सिद्धत्व स्थापित करते हैं; इसलिए तू भी अपने ज्ञान में यह बात जमाकर एक ही बार में सिद्धत्व का स्वीकार कर। पूर्णता के लक्ष्य से प्रारम्भ ही वास्तविक प्रारम्भ है। पहले से आत्मा की सिद्धसमान स्थापना करके ही बात प्रारम्भ की है। ऐसे वास्तविक वस्तु स्वभाव के भान बिना धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

मुक्ति का उपाय : भेदज्ञान

[गतांक के आगे]

(६०) प्रवचनसार की स्थापना

आज इस जिनमन्दिर में श्री प्रवचनसारजी परमागम की भी स्थापना हुई। उस प्रवचनसार की ८०-८१-८२वीं गाथा में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि जो जीव अरिहन्त भगवान के आत्मा को द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से जानता है, वह जीव अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है। इस प्रकार मोह का क्षय करके और सम्यक् आत्मतत्त्व को पाकर जो राग-द्वेष का क्षय करे, वह शुद्धात्मा को प्राप्त होता है। सभी अरिहन्त भगवान इसी विधि से कर्मों का क्षय करके निर्वाण को प्राप्त हुए हैं, तथा सभी अरिहन्त भगवन्तों ने उपदेश भी इसी प्रकार किया है। भगवान द्वारा कहे गये सर्व प्रवचनों का सार शुद्ध आत्मा ही है। अरिहन्त भगवान जैसे अपने शुद्ध आत्मा को जिसने श्रद्धा-ज्ञान में लिया है, उसने वास्तव में अपने आत्मा में प्रवचन के सार की स्थापना की है।

(६१) आस्रवभावों से चैतन्य की अत्यन्त भिन्नता

आत्मा का चैतन्यस्वभाव ऐसा है कि अपने को जानते हुए, पर को भी जान लेता है। आस्रव, आत्मा के स्वभाव से विपरीत हैं, वे अपने को या पर को नहीं जान सकते, लेकिन वे तो पर से ज्ञात होने योग्य हैं अर्थात् आस्रव को तो अन्य ही जानते हैं। आस्रव, आत्मा से भिन्न हैं, इसलिए आस्रवों की अपेक्षा से आत्मा अन्य ही है। ''आत्मा आस्रवों से अन्य ही है''–ऐसा कब कहलाया? आस्रवों से पृथक् होकर जो आत्मा स्वभावोन्मुख हुआ, वह आस्रवों से अन्य ही है। स्वसन्मुख दृष्टि से जो जागृत हुआ, वह चैतन्य की वृद्धि को देखता है और आस्रवों को गौण करता है। निमित्तरूप जड़कर्म तो पर हैं, वे आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं, और आस्रवभावों को भी यहाँ तो चैतन्य से अत्यन्त भिन्न बतलाकर श्री आचार्यदेव कहते हैं कि अपनी श्रद्धा को वस्तु स्वभाव सन्मुख कर। व्यवहार के आश्रय की श्रद्धा छोड़। व्यवहार स्वयं निश्चय द्वारा ज्ञात होने योग्य है। व्यवहार (शुभराग) स्वयं निश्चय या व्यवहार को नहीं जानता है। चैतन्य के आश्रय को चूककर धर्म के नाम पर बाह्य विधि-निषेध में जगत के अनेक जीवों को का समय निकल जाता है। बाह्य पदार्थों से तो आत्मा पृथक् है, इसलिए आत्मा उन पदार्थों को ग्रहण ही नहीं करता; लेकिन यहाँ तो कहते हैं कि भगवान आत्मा, आस्रव के विकारी भावों का भी अपने स्वभाव में ग्रहण नहीं करता; आत्मा, विकार से भी भिन्न है। अन्तर में जो पुण्य-पाप होते हैं, वे चैतन्यस्वभाव

से अन्य हैं–पृथक् हैं; यद्यपि आकाशक्षेत्र की अपेक्षा से पृथक् नहीं है। विकारी भाव चैतन्य का स्वभाव नहीं हैं, इसलिए वे आत्मा से भिन्न हैं। ऐसे आत्मस्वभाव को पहचानकर उसमें एकाग्रता प्रगट करना, सो मोक्ष का उपाय है।

सुवर्णपुरी में मंगल-प्रवचन

सौराष्ट्र में बिहार करके सोनगढ़ पधारने पर वीर सं० २४७६ के अषाढ़ शुक्ला ७ के दिन
पूज्य गुरुदेवश्री का किया हुआ मंगल-प्रवचन

यहाँ मांगलिक के रूप में यह समयसार की २०६ वीं गाथा पढ़ी जा रही है :–

आमां सदा प्रीतिवन्त बन, आमां सदा सन्तुष्ट ने।
आनाथी बन तुं तृप्त, तुजने सुख अहो उत्तम थशे॥

यह मंगल की गाथा है, इसमें आत्मा के उत्तम सुख की बात आयी है। आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य! तू इसमें नित्य रत् अर्थात् प्रीतिवन्त बन, इसमें नित्य सन्तुष्ट हो और इसी से तृप्त हो; ऐसा करने से तुझे उत्तम सुख होगा।

हे भव्य! आत्मा ज्ञानस्वभाव है। ज्ञान ही वास्तव में आत्मा है, विकार आत्मा नहीं है। तथापि अनादि से विकार को और पर को अपना स्वरूप मानकर चौरासी के अवतार में परिभ्रमण करता है। अपने ज्ञान और आनन्द स्वभाव को अनादि से चूक गया है; यदि उसका भान करे तो आनन्द प्रगट हुए बिना न रहे।

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य! इतना ही सत्य आत्मा है जितना कि यह ज्ञान है–ऐसा निर्णय करते तू आत्मा में सदा प्रीतिवन्त बन। आत्मा क्या है, उसका अभी तक निर्णय भी नहीं किया। अनादि से विकार को आत्मा मानकर उसकी रुचि की है; परन्तु विकाररहित त्रिकाली द्रव्य आत्मा है–वह ज्ञानमात्र है, उसकी कभी रुचि नहीं की।

पर्याय में क्षणिक विकार के समय यदि आत्मा द्रव्यस्वभाव से शुद्ध न हो तो शुद्धता कहाँ से प्रगट होगी? सर्वथा अशुद्धता ही हो तो अशुद्धता में से शुद्धता कभी प्रगट नहीं हो सकती; शुद्धता में से शुद्धता प्रगट होती है। इसलिए क्षणिक विकार के समय भी आत्मद्रव्य स्वभाव से शुद्ध है। और यदि वर्तमान पर्याय में क्षणिक अशुद्धता न हो तो यह संसार न हो; इसलिए क्षणिक पर्याय में वर्तमान अशुद्धता भी है। उसमें क्षणिक अशुद्धता की प्रीति जीव ने की है, परन्तु शुद्ध द्रव्य की प्रीति कभी नहीं की। शुद्ध द्रव्य के आश्रय से ही शुद्धता और सुख प्रगट होता है। जड़ शरीर या विकार के आश्रय से सुख प्राप्त हो–ऐसा कभी नहीं होता।

मैं ज्ञाता-दृष्टा जाननेवाल हूँ; जितना ज्ञान है, उतना ही मैं हूँ, विकार है, वह मैं नहीं हूँ; मैं ज्ञान हूँ और पर तथा विकार मेरे ज्ञेय हैं, उनसे मैं भिन्न हूँ,–इस प्रकार हे जीव! ज्ञानमात्र आत्मा में प्रीति कर, उसका आश्रय कर। स्वभाव के आश्रय बिना अनन्त संसार में तुझे कहीं भी शान्ति नहीं मिली।

सर्वज्ञ भगवान ने नवतत्त्व कहे हैं, उनमें जीवतत्त्व किसे कहना? जितना ज्ञान है, उतना ही आत्मा है। राग है, वह जीवतत्त्व नहीं है; किन्तु ज्ञान ही जीवतत्त्व है। जड़ शरीर की क्रिया अजीवतत्त्व में आती है। हिंसादि भाव, वह पापतत्त्व हैं; दया, व्रतादि भाव, वह पुण्यतत्त्व हैं; वे पुण्य और पाप–दोनों आस्रवतत्त्व हैं; उस विकार में आत्मा अटके सो बन्धतत्त्व है। विकाररहित शुद्ध आत्मा का ज्ञान और एकाग्रता करना, वह संवर और निर्जरातत्त्व है, और पूर्ण शुद्धता प्रगट हो, वह मोक्षतत्त्व है। उनमें जो पुण्य, पाप विकार है, वह मैं हूँ–ऐसा अज्ञानी मानता है; अर्थात् पुण्य, पाप, आस्रव और बन्धतत्त्व को ही वह जीवतत्त्व मानता है, वह विपरीत रुचि है। उससे कहते हैं कि, पुण्य-पाप हे, वह जीवतत्त्व नहीं है, परन्तु जितना ज्ञान है, उतना ही जीवतत्त्व है,–ऐसा समझकर, तू ज्ञानमात्र आत्मा की रुचि कर।

'हे भव्य! इतना ही सत्य (परमार्थ स्वरूप) आत्मा है, जितना यह ज्ञान है–ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र में ही सदैव रति (प्रीति, रुचि) प्राप्त कर!' यहाँ कहा है कि ज्ञानस्वभाव है, वही आत्मा है। किसी भी समय निमित्त का या राग का आश्रय करे, वह आत्मा है–ऐसा नहीं कहा। जिस प्रकार केवली भगवान का आत्मा ज्ञानमय है, उसे रागादि या निमित्त का आश्रय नहीं है; उसी प्रकार केवलज्ञान के साथ मिलान करके कहते हैं कि–जितना ज्ञान है, उतना ही सत्य आत्मा है। जो पुण्य-पाप के विकल्प हैं, वह कहीं सत्य आत्मा नहीं है। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का विकल्प, उस ओर का ज्ञान या पंचमहाव्रत के विकल्प–ऐसा जो व्यवहाररत्नत्रय का भाव है, वह वास्तव में आत्मा नहीं है; और वह आत्मा की पर्याय भी नहीं है; क्योंकि उसके साथ आत्मा की

अभेदता नहीं है। ज्ञान की अवस्था हो, वही आत्मा की पर्याय है; और वह ज्ञान आत्मा के साथ अभेद होता है, इससे ज्ञान ही आत्मा है; राग अनात्मा है।

जड़ पदार्थ और पुण्य-पाप जगत में हैं ही नहीं–ऐसा आचार्यदेव नहीं कहते, क्योंकि जड़ और पुण्य-पाप हैं, तभी तो आत्मा उनसे पृथक् हैं–ऐसा समझाते हैं। सम्यग्दर्शन के पहले कषाय की मन्दता से विशुद्धि लब्धि आदि भले हों, परन्तु वह आत्मा नहीं है और न वह सम्यग्दर्शन का यथार्थ कारण है–वह तो राग है। ज्ञान ही आत्मा है–ऐसा निश्चय करने की बात पहले की है; यदि यह निश्चय न करे तो सम्यग्दर्शन नहीं होता। वीतराग होने से पूर्व धर्मी को राग होता है, परन्तु उसे भान है कि यह राग है, वह सत्य आत्मा नहीं है और आत्मा में उसकी अभेदता नहीं होती, इससे वह वास्तव में आत्मा की पर्याय नहीं है। जो पर्याय प्रगट होकर आत्मा के साथ अभेद हो, वही वास्तव में आत्मा की पर्याय है।

रागादि भाव खरगोश के सींगों की भाँति जगत् में बिल्कुल अभावरूप नहीं हैं, आत्मा की अवस्था में एक समय पर्यन्त वे सत् हैं, परन्तु आत्मा के त्रिकाली स्वभाव की अपेक्षा से असत् हैं। रागादिरहित त्रिकाल शुद्ध ज्ञानस्वभाव को समझाने के लिए–'रागादि है' वह आतमा की पर्याय नहीं है–ऐसा कहा गया है।

यहाँ आचार्यदेव ने कहा है कि–केवली भगवान की भाँति तेरा आत्मा ज्ञान ही है,–ऐसे आत्मा की श्रद्धा कर तो तुझे उत्तम सुख होगा। 'तुझे उत्तम सुख होगा'–इस प्रकार अस्ति से ही यहाँ बात की है। अभी तक इन्द्रियों के विषय में सुख माना, वह वास्तव में सुख नहीं है। आत्मा की रुचि करके उसमें लीन होने से अतीन्द्रियसुख प्रगट हो, वही सच्चा सुख है। अभी तक तुझे वह सुख कभी हुआ नहीं है। तो अब ज्ञानस्वभावी आत्मा को पहचानकर उसकी प्रीति करने से तुझे उत्तम सुख होगा। ज्ञानमात्र आत्मा का निश्चय करके उसी की निरन्तर रुचि कर। निरन्तर उसी की रुचि करने को कहा है, बीच में कहीं एक समय भी व्यवहार की रुचि करने को नहीं कहा। बीच में राग और व्यवहार हो भले, परन्तु उसकी रुचि मत करना। 'निरन्तर' में कौनसा समय शेष रहा? यदि किसी भी समय आत्मा की रुचि छोड़कर व्यवहार की रुचि करे, तो उस आत्मा की धर्मदशा नहीं टिकेगी। व्यवहार की रुचि तो अनादि से अभव्य जीव भी करता है, उससे कल्याण नहीं है।

प्रथम आत्मा की रुचि की बात ली है। प्रारम्भ में सब राग-व्यवहार दूर नहीं हो जाता; लेकिन रुचि बदल दो। पर की और व्यवहार की प्रीति अनादि से है, उसे बदलकर ज्ञानमूर्ति आत्मा की प्रीति कर। राग का विकल्प उठे, वह ज्ञान नहीं है, परन्तु ज्ञान से भिन्न है। जितना ज्ञान है, उतना

ही आत्मा है; ज्ञान किसी में कुछ परिवर्तन नहीं करता, लेकिन सबको जानता है। जितना ज्ञान उतना ही आत्मा–ऐसा कहकर ज्ञान और आत्मा को अभेद किया और राग को आत्मा से पृथक् किया। ऐसे आत्मा की ही निरन्तर प्रीति कर।

जीव अपनी रुचि को स्वतन्त्ररूप से बदल सकता है, इससे उसे बदलने को कहा है। मोहकर्म दूर हो तो तुझे आत्मा की रुचि हो–इस प्रकार कर्म की बात नहीं ली है। तू स्वयं निश्चय करके निरन्तर आत्मा की रुचि को प्राप्त हो–ऐसा कहने में पर्याय की स्वतन्त्रता भी आ गई।

रुचि प्राप्त करने को कहा, उसमें ऐसा भी आ गया कि अभी तक आत्मा की रुचि को प्राप्त नहीं हुआ है और अब नवीन रुचि को प्राप्त हो। यदि वस्तु में परिणमन न हो तो वह बात नहीं बन सकती, इससे परिणमन भी सिद्ध हुआ। अभी तक विपरीत रुचि है और सत्रुचि को प्राप्त नहीं हुआ है, उसे बदलकर अब आत्मा का निर्णय करके निरन्तर उसकी रुचि को प्राप्त हो।–ऐसा करने से, हे भव्य! तुझे उत्तम सुख होगा।

यहाँ, 'तू आत्मा की रुचि कर, इससे तुझे उत्तम सुख होगा'–ऐसा आदेश किया है; तो उस बात के धारण करके रुचि प्रगट करनेवाला दूसरा जीव सामने है। सामने पात्र जीव को लेकर ही आचार्यदेव कथन करते हैं कि–हे भव्य! यदि तू आत्मा को समझकर कल्याण प्रगट करने के लिए हमारे पास आया हो तो ऐसा निर्णय कर कि जितना ज्ञान है, उतना ही आत्मा है; जो पुण्य-पाप हैं, वह सत्य आत्मा नहीं है, किन्तु असत्य आत्मा है अर्थात् आत्मा के परमार्थ स्वभाव की दृष्टि से देखने पर पुण्य-पाप उसमें हैं ही नहीं; इससे पुण्य-पाप आत्मा नहीं हैं। ज्ञानस्वभाव ही आत्मा है। ज्ञानस्वभाव जानने के अतिरिक्त दूसरा क्या करेगा? ज्ञान कर्ता होकर किसी पर का कुछ भी कार्य नहीं करता और न अपने में से विकार की उत्पत्ति करता है।–ऐसा ज्ञानमात्र आत्मा है। अनादि से ज्ञान को छोड़कर अन्यत्र लक्ष्य करके वहाँ अपनत्व माना था, यहाँ आत्मा को 'ज्ञानमात्र' कहकर ज्ञान के अतिरिक्त अन्य पर का लक्ष्य छुड़ाते हैं। 'ज्ञानमात्र' कहने से उसमें विकार का और पर का अभाव सिद्ध होता है; परन्तु ज्ञान के अतिरिक्त हो जो श्रद्धा–चारित्र-आनन्द आदि अनन्त गुण हैं, वे तो ज्ञानमात्र में ही अभेदरूप से आ जाते हैं।

जब ज्ञानमात्र आत्मा की ओर उन्मुख होकर उसका निर्णय किया, तब क्षयोपशम लब्धि आदि को व्यवहार से सम्यग्दर्शन का कारण कहा जाता है। व्यवहार के आधार से निश्चय टिका रहता है–ऐसा नहीं है। एक समय भी यदि व्यवहार की रुचि करे तो आत्मा समझ में नहीं आता। इसलिए व्यवहार की प्रीति छोड़कर निरन्तर ज्ञानस्वरूपी आत्मा की प्रीति कर।

जिस प्रकार केवलज्ञानी भगवान का आत्मा ज्ञानमात्र है, उसी प्रकार मैं भी ज्ञानमात्र हूँ–

ऐसा निर्णय करके, अपने ज्ञानस्वभाव को ही स्वज्ञेय करने से आत्मा की सम्यक्-श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान प्रगट हुए, तब उस ज्ञान में निमित्त आदि व्यवहार से ज्ञेय हुए; स्वोन्मुख होने से ज्ञानसामर्थ्य प्रगट हुआ तब,–'यह निमित्त था'–इस प्रकार निमित्त को व्यवहार से ज्ञेय बनाया। ज्ञान ही प्रगट न करे तो ज्ञान के बिना ज्ञेय किसका? निमित्त हैं, वह कर्ता तो नहीं है, लेकिन अज्ञानी के लिए तो वास्तव में वह ज्ञेय भी नहीं है; क्योंकि ज्ञान के बिना ज्ञेय किसका? जैसे–लोकालोक तो सदैव हैं ही, लेकिन जब केवलज्ञान प्रगट किया, तब लोकालोक उसका ज्ञेय हुआ। केवलज्ञान होने से पूर्व लोकालोक उसका ज्ञेय नहीं था, लेकिन जब स्वाश्रय से केवलज्ञान हुआ, तब वह उसका ज्ञेय हुआ। उसी प्रकार निचलीदशा में भी वास्तव में तो रागादि और निमित्त उस ज्ञान का ज्ञेय ही हैं, लेकिन वास्तव में उन्हें ज्ञान का ज्ञेय कब कहा जाता है? जब कि–'उस राग और निमित्तों से मैं भिन्न हूँ'–इस प्रकार स्वसन्मुख होकर यदि आत्मा का ज्ञान प्रगट करे तो वह ज्ञान, राग और निमित्त को परज्ञेयरूप से यथार्थ जाने और तब उन्हें ज्ञेय कहा जाये। रागादि या निमित्त, ज्ञान के कर्ता तो नहीं हैं, परन्तु अज्ञानी को तो वास्तव में वे ज्ञान के ज्ञेय भी नहीं हैं, क्योंकि उसमें स्वाश्रित ज्ञान ही विकसित नहीं हुआ है; उसका ज्ञान, राग में ही एकाकार हो जाता है, इसलिए राग को ज्ञेय करने की शक्ति ही उसमें विकसित नहीं हुई है। राग से पृथक् हुए बिना उसे (राग को) ज्ञेय करने की शक्ति विकसित नहीं होती। राग और निमित्त से भिन्न आत्मस्वभाव को जाने बिना राग को रागरूप से और निमित्त को निमित्तरूप से जानेगा कौन? जाननेवाला ज्ञान तो राग और निमित्त की रुचि में अटक गया है। आत्मा की रुचि की ओर उन्मुख हुए बिना और राग तथा निमित्त की रुचि दूर हुए बिना, निमित्त और व्यवहार का सच्चा ज्ञान नहीं होता। जब स्वाश्रय से ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करके उसी को स्वज्ञेय किया, तब स्व-पर-प्रकाशक ज्ञानसामर्थ्य विकसित होने से निमित्तादि भी उसके व्यवहार से ज्ञेय हुए।

हे भाई! प्रथम, मैं सत्य ज्ञानस्वभाव हूँ–इस प्रकार प्रीति करके हाँ तो कह! तेरे ज्ञानस्वभाव को पुण्य-पाप विकल्प भी वास्तव में तो ज्ञेयरूप ही हैं, परन्तु अज्ञान से पर्यायबुद्धि में उनके साथ कर्ता-कर्मपना माना था, तब वे यथार्थरूप से ज्ञेय नहीं होते थे। अब, स्वसन्मुख रुचिपूर्वक स्वभाव को जानने से तेरे ज्ञान में वे ज्ञेय हुए। ऐसा ज्ञानस्वभाव का निर्णय करने से शुद्धता प्रगट होती है और अशुद्धता तथा कर्म सहज ही दूर होते जाते हैं,–उसका नाम निर्जरा है। ज्ञानमात्र आत्मा की रुचि होने से मिथ्यारुचि का और मिथ्यात्वकर्म का व्यय हो जाता है; उसका व्यय करूँ–ऐसा नहीं है, परन्तु यहाँ स्वभाव की ओर की रुचि का उत्पाद होने से पर के ओर की उस रुचि का उत्पाद ही नहीं होता।

पराश्रयवाला कोई भी भाव आत्मा नहीं है; पराश्रयरहित ज्ञानस्वभाव ही आत्मा है। उसका निर्णय और रुचि करने से सम्यग्दर्शन का उत्पाद और मिथ्यात्व का व्यय होता है, तथा उस समय मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय आदि कर्मों की प्रकृतिओं के पलट जाने का काल उनके अपने कारण से होता ही है। आत्मा, जड़कर्म की दशा का कर्ता नहीं है, तथापि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ऐसा है कि आत्मा सम्यग्दर्शन प्रगट करे, तब मिथ्यात्वकर्म का अभाव न हो–ऐसा नहीं होता। पहले व्यवहार की रुचि थी और व्यवहार को ज्ञान का कारण मानता था, तब तो वह व्यवहार, ज्ञान का ज्ञेय भी नहीं होता था; अब, ज्ञान की रुचि से अपने में ज्ञान की शक्ति विकसित हुई, तब व्यवहार उस ज्ञान का ज्ञेय हुआ। राग और व्यवहार को ज्ञान का कार्य मानता था और उससे ज्ञान होगा–ऐसा मानता था, तब तो राग और ज्ञान के बीच भेद ही नहीं किया था। अब, ज्ञान है, वह आत्मा है और राग, आत्मा नहीं है–इस प्रकार भेद करके आत्मोन्मुख होने से सम्यग्ज्ञान हुआ, तब राग को रागरूप से जाना, और वह उसके ज्ञान का ज्ञेय हुआ।

जैसे कोई आँख से धूल को उठाना चाहे, तो आँख का स्वभाव धूल को उठाने का नहीं है, और धूल का स्वभाव आँख द्वारा उठने का नहीं है। उसी प्रकार अज्ञानी जीव, ज्ञान से विकार का कार्य कराता है–ज्ञान को विकार का कर्ता मानता है; परन्तु आँख की भाँति ज्ञान का स्वभाव रागादि का कर्ता होने का नहीं है और रागादि का स्वभाव, ज्ञान का कार्य होने का नहीं है। राग को जानने का ज्ञान का स्वभाव है और ज्ञान में ज्ञेय होने का राग का स्वभाव है। यदि ज्ञान और राग एक हों तो कभी भी राग की रुचि दूर होकर ज्ञान की रुचि न हो; परन्तु वे दोनों भिन्न हैं, इससे राग की रुचि दूर करके ज्ञान की रुचि करने को कहा है। देखो, इस मांगलिक में श्रेष्ठ बात आयी है। अनन्तकाल में भी आत्मा की प्रीति नहीं की; आत्मा की प्रीति प्रगट करके उसमें सन्तुष्ट होना, वह अपूर्व मंगल है।

जिसे वर्तमान विकार के ओर की प्रीति है,उसे उसमें से स्वोन्मुख करने को कहते हैं कि–इस आत्मा में तू प्रीतिवन्त बन। अपनी अनादिकालीन रुचि की दिशा को बदल दे कि मैं तो ज्ञान हूँ। रुचि पलटाने में कोई दूसरा कारण नहीं है। ज्ञानमात्र की रुचि छूटकर किसी भी समय व्यवहार की रुचि रहे तो उसे धर्म नहीं रहता। किसी को ऐसा लगे कि इसमें व्यवहार उड़ा जाता है, तो वह बराबर नहीं है; इसी में निश्चय और व्यवहार का यथार्थ ज्ञान आता है। व्यवहार है, उसका कहाँ अस्वीकार करते हैं? परन्तु उस व्यवहार के आश्रय की बुद्धि छुड़ाते हैं। अज्ञानी तो व्यवहार को निश्चय का कारण मानते हैं, इससे उन्हें व्यवहार व्यवहाररूप से नहीं रहा, परन्तु व्यवहार ने ही निश्चय का कार्य किया, इसलिए व्यवहार स्वयं निश्चय हो गया, और निश्चय का कार्य व्यवहार ने

किया, इसलिए उसे निश्चय भी नहीं रहा। इस प्रकार अज्ञानी को निश्चय और व्यवहार दोनों उड़ जाते हैं। ज्ञानी तो निश्चय का आश्रय रखकर व्यवहार को जैसा है, वैसा जानते है, व्यवहार को निश्चय का कारण नहीं मानते, इससे उन्हीं को निश्चय और व्यवहार–दोनों का यथार्थ ज्ञान है।

ज्ञानमात्र आत्मस्वभाव की प्रीति करके सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ, वह निश्चय के आश्रय से प्रगट हुआ है। निश्चय के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट किया, तब पूर्व की पाँच लब्धियों को सम्यग्दर्शन का कारण व्यवहार से कहा गया। सम्यग्दर्शन होने से पाँच लब्धियों का अभाव होता है, इससे उन्हें सम्यग्दर्शन का कारण कहना, वह आरोप से है। आत्मा ज्ञानमात्र है–ऐसा कहने से रागादि भाव भिन्न ज्ञेयरूप से रहते हैं, परन्तु वे रागादि कारण और आत्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कार्य–ऐसा नहीं है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष के कारण हैं, लेकिन वे प्रगट कब होते हैं? जब द्रव्य का आश्रय किया, तब वे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुए हैं; इसलिए उनका आधार तो द्रव्य है। उस द्रव्य की प्रीति करना, वह सम्यग्दर्शन है।

आत्मा कर्ता और ज्ञानस्वभाव की रुचि करना, वह उसकी पहली धर्मक्रिया है। स्वभाव की रुचि की वहाँ, राग होने पर भी वह स्वभाव से पृथक् वस्तु है–ऐसा ज्ञान जानता है, वह व्यवहार है। ज्ञान के आश्रय से कल्याण होता है और पुण्य के आश्रय से भी कल्याण होता है–ऐसा अनेकान्त का स्वरूप नहीं है; लेकिन ज्ञान के ही आश्रय से कल्याण होता है और पुण्य के आश्रय से कल्याण नहीं होता–ऐसा अनेकान्त है। ज्ञानस्वभावी आत्मा की रुचि करना ही कल्याण का पंथ है। स्वतन्त्र रुचि बदलने का पुरुषार्थ स्वयं न करे तो कोई कराने मे समर्थ नहीं है।

प्रथम, ज्ञानमात्र आत्मा की रुचि करने की बात कही है; अब रुचि के पश्चात् दूसरी बात करते हैं। कोई कहे कि–रुचि के पश्चात् क्या करना चाहिए? तो कहते हैं कि–जिस स्वभाव की तूने रुचि की है, उसी में सन्तुष्ट हो। सन्तोष है, वह चारित्र है, इसलिए रुचि के पश्चात् चारित्र भी उसी में है। 'इतना ही सत्य कल्याण है, जितना कि यह ज्ञान है'–ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र से ही सदा सन्तोष प्राप्त कर। अन्य की इच्छा छोड़–ऐसा नास्ति से न कहकर, ज्ञानमात्र में ही सन्तुष्ट हो–इस प्रकार अस्ति से बात ली है। ज्ञानमात्र में सन्तुष्ट होने से इच्छा विलय को प्राप्त होती है। पहले पर की रुचि करके पर में सन्तोष मानता था, वह अकल्याण था; अब उसे छोड़कर आत्मस्वभाव की रुचि करके उसमें सन्तुष्ट हुआ, वह कल्याण है। रुचि की दशा का फेर था, इससे दशा नहीं सुधरती थी; रुचि की दिशा पलटने से दशा भी तत्क्षण पलट गयी।

आत्मा के अतिरिक्त अन्य वस्तुऐं–व्यवहार आदि हैं, और उनमें सन्तोष मानकर जीव

रुक गया है; तब तो उससे कहते हैं कि भाई ! उसमें सन्तोष मानना छोड़कर तू आत्मा में ही सन्तुष्ट हो। ज्ञानस्वभाव ही कल्याण है–ऐसा निश्चय किए बिना कभी आत्मा में सन्तोष होगा ही नहीं। जो देह की क्रिया और विकार की रुचि में धर्म मानकर उसमें सन्तुष्ट हो गया है, और उससे आगे नहीं बढ़ता, उससे आचार्यदेव कहते हैं कि–ज्ञानमात्र से–अर्थात् अकेले आत्मा से ही तू सदैव सन्तुष्ट हो, उसी में कल्याण है। जितना ज्ञान है, उतना ही सत्य कल्याण है–ऐसा जिसने निश्चित् किया, वह उसी में सन्तुष्ट होता है; पुण्य-पाप विकल्प आते हैं, लेकिन उनसे वह सन्तुष्ट नहीं होता।

'तू आत्मा की रुचि करके उसमें सन्तुष्ट हो'–ऐसा कहा, तो पहले वैसा करनेवाले हो गये हैं, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे। उनमें जो पूर्ण सर्वज्ञ हुए, वे देव हैं; उस पूर्णता के साधक गुरु हैं, और उसका कथन करेनवाली वाणी सो शास्त्र है।–ऐसा कहनेवाले देव-गुरु-शास्त्र ही धर्म में निमित्तरूप होते हैं। इसके अतिरिक्त विपरीत अन्यप्रकार से कहनेवाले देव-गुरु-शास्त्र सत्य नहीं है। तेरी पर्याय स्वतन्त्र नहीं है, तू आत्मा की रुचि नहीं कर सकता, तुझे कर्म बाधक होंगे–ऐसा माननेवाले तथा कहनेवाले सब मिथ्यादृष्टि हैं। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र और उस ओर का राग–ऐसे निमित्त और व्यवहार हैं अवश्य, परन्तु उन्हें वास्तव में निमित्त-व्यवहार कब कहा जाता है? जब आत्मा उनकी रुचि छोड़कर स्वभाव की रुचि करके उसमें सन्तुष्ट हो, तब उसे निमित्त और व्यवहार का यथार्थ ज्ञान होता है, और तभी उन पर निमित्त-व्यवहार का आरोप आता है। यदि निमित्त और व्यवहार की रुचि छोड़कर आत्मा की रुचि की ओर न ढ़ले तो उसके लिए निमित्त वास्तव में निमित्त नहीं है और व्यवहार, व्यवहार नहीं है। आत्मा की रुचि करके उसमें सन्तुष्ट होने से पर की और का अमुक विकल्प तो टूट गया और विकल्प से पृथक् होकर स्वयं जागृत हुआ, तब उस निमित्त को और राग को व्यवहाररूप से जानता है। स्व को जाने बिना राग को व्यवहाररूप से कौन जानेगा? राग तो स्वयं अन्ध है, वह कहीं व्यवहार को या निश्चय को नहीं जानता।

'तू आत्मा की प्रीति कर, उसमें सन्तुष्ट हो और उसी में तृप्त हो, इससे तुझे उत्तम सुख होगा।'–ऐसा यहाँ कहा; इसलिए ऐसा कहनेवाले सच्चे निमित्त की भी इसमें स्वीकृति आ जाती है, तथा श्रवण करनेवाला पात्र है–यह बात भी आ जाती है; उसे सम्बोधकर बात कही है। यहाँ तो 'तू उत्तम सुख को प्राप्त करेगा ही'–ऐसा कहनेवाले को ही निमित्तरूप से लिया है। हे भव्य! 'तुझे उत्तम सुख होगा'–ऐसा कहनेवाले हम निमित्त हैं, तो तुझे भी निमित्त को निमित्त कहने का अवसर अवश्य आयेगा–अर्थात् तेरे उपादान में उत्तम सुख होगा। तू स्वयं आत्मा की रुचि से उत्तम सुख प्राप्त करेगा, और तब तुझे ऐसा कहनेवाले को निमित्त कहने का समय आयेगा। इस प्रकार उपादान-निमित्त की सन्धि वर्तती है। तुझसे कहा है कि तू ऐसा कर, इससे उत्तम सुख प्राप्त

करेगा; और तू उत्तम सुख प्राप्त करेगा, तब ऐसा कहनेवाले को–हम को निमित्त कहेगा। तू उत्तम सुख प्राप्त करेगा, यही बात ली है, 'प्राप्त नहीं कर सकेगा'–यह बात नहीं ली है।

देखो! यह आत्मा के कल्याण की बात है। कल्याण कहो या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहो अथवा मोक्ष का पंथ कहो; इस ज्ञानमात्र आत्मा की रुचि करना और उसमें स्थिर होना ही कल्याण का पंथ है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों कल्याण हैं।

अहो! 'मै ज्ञानमात्र हूँ'–ऐसी प्रीति करके उसमें जो सन्तुष्ट हुआ–तृप्त हुआ, उसे पुण्य-पाप हो तो उनमें वह प्रीति नहीं करता, सन्तुष्ट नहीं होत। पाप-भाव में तो सुख नहीं मानता और पुण्य में भी वह सुख नहीं मानता। 'तू आत्मा में सन्तुष्ट हो, इससे तू उत्तम सुख प्राप्त करेगा।'–इस प्रकार अस्ति की बात ली है। कर्म प्रकृति दूर होगी, तब तुझे सुख होगा–ऐसी बात नहीं ली; क्योंकि उसके सन्मुख देखने का क्या काम है? कर्म के सन्मुख या हमारे सन्मुख (–निमित्त के सन्मुख) देखने से तुझे क्या प्रयोजन है? उनकी दृष्टि छोड़कर तू अपने आत्मा के सन्मुख देखकर, उसी में प्रीति कर, उसी में सन्तुष्ट हो।–ऐसा करने से तुझे अपने अन्तर में ही अपूर्व उत्तम सुख का अनुभव होगा। उसमें तुझे किसी से पूछना नहीं पड़ेगा।

श्रोता को सुनते समय श्रवण की ओर का और निमित्त की ओर का विकल्प है, परन्तु वहाँ उसे रुचि करवाकर खड़ा नहीं करना चाहते; उस निमित्त और विकल्प के ओर की रुचि छुड़ाकर अन्तर स्वभाव की रुचि में ढ़लने को कहते हैं। भाई! तू ज्ञानमात्र है, अपने आत्मा को ज्ञान-मात्ररूप से लक्ष्य में ले। ज्ञानमात्र स्वभाव में से विकार की उत्पत्ति नहीं होती, और विकार में से ज्ञानमात्र स्वभाव उत्पन्न नहीं होता; इसलिए तू श्रवण की ओर के विकल्प से सन्तुष्ट मत होना, किन्तु निरन्तर ज्ञानस्वभाव की ही प्रीति करना, और उसी में सन्तुष्ट-तृप्त होना। यही कल्याण का पंथ है, यही निर्जरा और उत्तम सुख का उपाय है।

अज्ञानियों का निष्फल मिथ्या अभिप्राय

श्री समयसार बन्ध अधिकार गाथा २६७ पर पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों से

सौ जीव अध्यवसान कारण, कर्मथी बंधाय ज्यां।
ने मोक्षमार्ग स्थित जीवो मुकाय, तु शुं करे भला ?॥२६७॥

हे भाई ! यदि वास्तव में अध्यवसान के निमित्त के जीव, कर्म से बँधता है और मोक्षमार्ग में स्थित हुआ मुक्त होता है, तो तू क्या करता है? (तेरा बाँधनो-छोड़ने का अभिप्राय निष्फल गया।)

हे भाई ! तेरी शक्ति तुझमें है। तू ऐसा मानता है कि–मैं पर को बँधा दूँ और मैं पर को छुड़ा दूँ–ऐसा तेरी मिथ्याबुद्धि ही तुझे बन्धनकर्ता है। पर जीव उसके मिथ्या अभिप्राय से बन्धन करता है, इसमें तेरे अभिप्राय ने क्या कार्य किया? कई लोग ऐसा कहते हैं कि–हमने अमुक व्यक्ति को ऐसा हैरान किया कि उसका सब माल ले लिया–धन तो उसके पास है नहीं और माल सब ले लिया है, इसलिए अब वह हैरान होकर मर जायेगा। अरे भाई ! तेरा उसे हैरान करने का भाव है, तथापि यदि वह जीव, आत्मा को पहचानकर पुरुषार्थ करके आत्मा में स्थिर होकर शान्ति रखेगा तो मुक्ति प्राप्त करेगा। अब तेरे भाव ने इसमें क्या किया? तुझे तो दूसरे जीव को दुःखी करके बन्धन कराने का भाव था, तथापि तेरे भाव ने क्या कार्य किया? कुछ भी नहीं किया। इसलिए दूसरों को बन्धन कराने का तेरा जो अभिप्राय है, वह व्यर्थ है–मिथ्या है।

और सामनेवाला जीव मोक्ष प्राप्त करता है, वह भी अपने कारण करता है। वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता करके अपने आप मुक्ति प्राप्त करता है; उसमें तूने क्या किया? अनेक लोग ऐसा कहते हैं कि–हमें सामनेवाले जीव को समझाने की ऐसी रीति अपनाना चाहिए कि जिससे वह समझ ही जाये। अरे भाई ! तू चाहे जो करे, तथापि सामनेवाला जीव समझता है, वह उसके अपने कारण समझता है, तुझसे किंचित्मात्र भी नहीं समझता। यदि एक दूसरे से समझते हों तो अनन्तकाल में अनन्त तीर्थङ्कर हो गये हैं, उन्होंने बहुत कुछ समझाया, तथापि तू क्यों नहीं समझा? तीर्थङ्करदेव से ऊँचा समझानेवाला तो जगत् में कोई है ही नहीं। इसलिए अपनी समझाने की रीति अच्छी हो तो दूसरे जीव समझते हैं–वह अभिप्राय बिल्कुल मिथ्या सिद्ध हुआ, निष्फल गया।

हे भाई ! तू ऐसा मानता है कि हम दूसरों का उद्धार कर दें, लेकिन कौन किसका उद्धार कर सकता है? समझानेवाला तो स्वयं अपने सत्यभाव का मन्थन करता है; दुनिया माने या माने, कल्याण करे या न करे–वह उसके अपने कारण, उसके अपने आधार से है।

'मैं बन्धन करता हूँ, मैं छुड़ाता हूँ'–ऐसा जो अध्यवसान है, उसकी अपनी अर्थक्रिया जीवों को बाँधना–छोड़ना (मुक्त करना, छोड़ना) है। लेकिन जीव तो, इस अध्वसाय को सद्भाव होने पर भी, अपने सराग-वीतराग परिणामों के अभाव से न बँधता है, न छूटता है; और अपने सराग-वीतराग परिणामों के सद्भाव से –उस अध्यवसाय का अभाव होने पर भी–बँधता है, छूटता है।

तेरा भाव ऐसा है कि–इसे छुड़ा दूँ, यानी संसार से मुक्त कर दूँ; तथापि वह सामनेवाला जीव–'मैं आत्मा ज्ञानानन्द हूँ, पर से पृथक् हूँ'–ऐसा भान और श्रद्धा न करे तो मुक्त नहीं हो सकता।

तेरा भाव ऐसा हो कि–इस सामनेवाले जीव को बन्धन करा दूँ; तथापि सामनेवाला जीव अज्ञान और राग-द्वेष के भाव नहीं करता, किन्तु श्रद्धा-ज्ञान और लीनता करके मुक्ति प्राप्त करता है; इससे वह नहीं बँधता। तो अब तेरे भाव ने क्या किया? तेरा भाव था कि मैं इसे बन्धन करा दूँ; तो उस भाव से क्या हुआ? इसलिए निश्चित हुआ कि प्रत्येक जीव को अपने ही भावों के आधार से बन्ध-मुक्ति है।

अज्ञानी को–'पर जीव को बन्धन करा दूँ और पर जीव को छुड़ा दूँ'–ऐसे भाव होते हैं; ज्ञानी के पर को बँधाने-छुड़ाने के भाव नहीं होते, लेकिन पर जीव समझे तो ठीक–ऐसा प्रशस्तभाव आता है; परन्तु मैं ही धर्म प्राप्त करात हूँ–ऐसा मिथ्या अभिप्राय नहीं होता। तीर्थङ्करदेव को पूर्वभव में ऐसा भाव आता है कि सब जीव धर्म प्राप्त करें, सब समझें!–ऐसा उत्कृष्ट प्रशस्तभाव आने से तीर्थङ्करनामकर्म का बन्ध होता है। 'सर्व जीव करूँ शासनरसी, ऐसी भावदया मन उलसी'–इस प्रकार का प्रशस्तभाव तीर्थङ्करनामकर्म बँधते समय होता है। उसमें यथार्थतया तो ऐसा है कि मेरा निर्विकल्प स्वभाव पूर्ण हो जाये। अन्तर में तो स्व की ओर का भाव है और बाह्य में–निमित्त में पर जीवों को धर्म प्राप्त कराने का भाव है।

जगत् के जीवों के और ज्ञानी के प्रत्येक शब्द के आशय में अन्तर पड़ता है। अज्ञानी कहता है कि मैं पर को तार देता हूँ, और तीर्थङ्कर होनेवाले ज्ञानी कहते हैं कि–सर्व जीव करूँ शासनरसी–इस प्रकार दोनों कहते हैं, लेकिन आशय में उदय-अस्त जितना अन्तर है। ज्ञानी के अन्तर में पूर्ण होने की भावना है और अज्ञानी के मात्र बाह्य दृष्टि है।

ज्ञानी कहते हैं कि कि प्रभो! आपने मुझे समझाया है। गुरु के प्रति शुभराग का विकल्प आने से बहुमान से ऐसा बोलते हैं, वह व्यवहार है, लेकिन अन्तर में समझते हैं कि मैं समझूँ, तभी समझ में आता है; स्वयं समझें, तब देव-गुरु-शास्त्र निमित्त कहलाते हैं; इससे निमित्त पर आरोप करके–'प्रभो! आपने मुझे समझाया'–ऐसा कहा जाता है। विनयवन्त शिष्य, निमित्त पर आरोप

करके–'प्रभो! आपने मुझे समझाया'–इस प्रकार गुरु का बहुमान करता है,–ऐसी विनय की रीति है। आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! अपने सराग-वीतराग परिणामों के सद्भाव के आधार से बन्धन और मुक्ति होते हैं, इसलिए तू पर का कुछ भी नहीं कर सकता।

भगवान आचार्यदेव कहते हैं कि–एक आत्मा दूसरे आत्मा को बन्धन या मुक्ति कराने का भाव कर सकता है, लेकिन स्वयं दूसरे को बन्धन या मुक्ति नहीं कर सकता; मात्र भावकर सकता है।

अपने सराग और वीतराग परिणामों के आधार से जीवों को बन्धन-मुक्ति होते हैं।

भगवान को 'तीत्राणं तारयाणं' कहा जाता है, वह भक्ति से निमित्त पर आरोप रखकर कहा जाता है। साधक को ऐसा विचार आये बिना नहीं रहता; लेकिन कोई किसी को तार नहीं सकता। तरनेवाला जब तरता है, तब भगवान ने तारा–ऐसा निमित्त में आरोप आता है। तरनेवाला, जब तरता है, तब देव-गुरु-शास्त्र का निमित्तपना होता है, लेकिन देव-गुरु-शास्त्र तार नहीं देते। यदि त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्कर तार देते तो सब जीवों को मोक्ष में क्यों न ले गये? इसलिए भगवान नहीं तार देते, लेकिन तरनेवाला जब तरता है, तब भगवान को निमित्त कहा जाता है।

आत्मा स्वयं अपने से बँधता और छूटता है। आत्मा को बँधना और छूटना अपने कारण से है। एक आत्मा में दूसरे का कुछ भी करने का सामर्थ्य नहीं है, दूसरे का कुछ भी करने के लिए आत्मा समर्थ नहीं है। आत्मभगवान देह से पृथक् तत्त्व है, वह पर के कारण बँधता और छूटता है–ऐसा जो मानता है, वह आत्मा को पराश्रित बनाता है। आत्मा स्वयं स्वतन्त्र तत्त्व है, इसका बँधना-छूटना अपने हाथ में है। अपने पुरुषार्थ द्वारा अपनी मुक्ति हो, तब भगवान को निमित्त कहा जाता है। भगवान के समवशरण में इन्द्र आते हैं, और वे स्वयं ही समवशरण की रचना करते हैं। भगवान की दिव्यध्वनि एकाक्षरी होती है, होंठ बन्द रहते हैं और सर्वांग से दिव्यध्वनि खिरती है। भगवान की सभा में कोई जीव ऐसे भी बैठे होते हैं जो वहाँ से बाहर आने पर औंधे गिरते हैं (विपरीत धारणा करते हैं।) भगवान की सभा में इन्द्र और चक्रतर्वी आदि भी होते हैं और ऐसे औंधे गिरनवाले जीव भी होते हैं। यदि भगवान तार देते हों तो सब को समझ जाना चाहिए; लेकिन सब नहीं समझ पाते; जिसकी योग्यता हो, वह समझता है। लेकिन जब समझता है, तब उसे विनय आये बिना नहीं रहती; विनय से निमित्त पर आरोप करके कहत है कि–हे जिनेन्द्र देव! आपने मुझे तार दिया; हे नाथ! आप तारण-तरण हो! आपने मुझे तारा, आपने मेरा उद्धार किया, आपकी दिव्यध्वनि द्वारा मैं समझा; आपके दर्शन से मैं संसार-सागर से पार हुआ। इस प्रकार, स्वयं अपने पुरुषार्थ द्वारा समझे, तब सामनेवाले निमित्त पर भक्तिभाव आये बिना नहीं रहता–ऐसा साधक का स्वरूप है।

आचार्यदेव कहते हैं कि भगवान किसी को पार नहीं उतार देते; अपने पुरुषार्थ बिना अपने को मोक्ष नहीं मिल सकता। इसलिए तेरा जो दूसरों को बंधाने-छुड़ाने का अभिप्राय है, वह बिल्कुल मिथ्या है। भगवान भी दूसरों को नहीं तार सकते, वे तो वीतराग हैं; वीतराग के इच्छा नहीं होती, वे तो चैतन्य परमब्रह्म हो गये हैं, पूर्णानन्द पूर्णस्वरूप हो गये हैं। भगवान को एक भी राग का विकल्प नहीं है, तथापि उनकी सभा में, पशु, मनुष्य और विद्याधर धर्म प्राप्त कर लेते हैं; इससे सिद्ध होता है कि कोई किसी को मुक्त नहीं कर सकता, और न कोई किसी को तार ही सकता है। भगवान की सभा में पशु भी आत्मधर्म प्राप्त कर लेते हैं और यहाँ अनेक मनुष्य होकर भी धर्म का अनादर करते हैं। बाहर निकलकर कहते हैं कि—ऐसी भी कहीं बात होती होगी? खाने-पीने की बात नहीं, रुपये-पैसे की बात नहीं लेकिन हर समय आत्मा की ही बात लगा रखी है! इस प्रकार धर्म की आसातना करते हैं, और विराधक होते हैं—वह भी अपने अपने कारण, पर के कारण नहीं।

भगवान भी किसी का कुछ नहीं कर सकते। समस्त जीव और जड़ पर में कुछ भी करने के लिए अकिंचित्कर हैं अर्थात् कोई किसी का कुछ कर ही नहीं सकता।

कोई दिगम्बर मुनिराज ध्यान में लीन हों, और अड़तालीस मिनिट में मोक्ष प्राप्त करनेवाले हों; वहाँ पूर्व का शत्रु कोई देव आकर लवण समुद्र के खारे जल में मुनिराज को डुबा दें; लेकिन मुनिराज तो, जहाँ जल में शरीर पड़ा कि उसी समय स्वरूप में लीन हुए, और लीन हुए कि तत्क्षण केवलज्ञान प्रगट हुआ, और उसी समय मोक्ष हो गया। सामनेवाला शत्रु देव मानता है कि मैं इसे नरक में ले जा रहा हूँ। उपसर्ग देनेवाले देव को ऐसा विचार आता है कि इसे गहरे और खारे जल में डुबाकर इसका दम घोंट दूँ, आकुलित कर दूँ; लेकिन मुनिराज ने तो चिदानन्द ज्ञाता के पिण्ड को पृथक् करके, राग के अंशमात्र को तोड़कर, वीतरागता करके केवलज्ञान प्रगट किया और मुक्ति प्राप्त की; और उससर्ग करनेवाले देव ने रौद्रध्यान में नीच परिणाम किये, इससे अशुभ कर्म बाँधकर दुर्गति में जायेगा। किसी को ऐसा लगे कि देवगति में बहुत सुख होंगे, लेकिन देव में भी राग-द्वेष और ईर्ष्या के सभी भाव भरे पड़े हैं। सुख तो आत्मा के स्वभाव में है, देवगति में सुख नहीं है।

देव के परिणाम तो मुनिराज को कर्म से बाँधने के थे कि मुनि को उपसर्ग करूँ और मुनि राग-द्वेष के परिणाम करके कर्म से बँधे; लेकिन मुनि तो स्वभाव की समता रखकर पुरुषार्थ करके केवलज्ञान को प्राप्त हुए। इसलिए सिद्धान्त यह हुआ कि किसी के अपने परिणामों के बिना कोई उसे बन्धन या मुक्ति नहीं करा सकता।

किसी को ऐसा भाव आये कि मैं दूसरे व्यक्ति को मुक्ति प्राप्त करा दूँ; लेकिन दूसरे की

मुक्ति कराना कहीं उसके हाथ की बात नहीं है। सामनेवाले का भाव उसके अपने कारण बदले और स्वभावोन्मुख हो तो मुक्ति हो। दूसरों के भाव का स्वामित्व अपने में नहीं आता, इसलिए दूसरों की मुक्ति कराने का सामर्थ्य अपने में नहीं है। मैं दूसरों की मुक्ति करा दूँ – ऐसा अभिप्राय स्व-पर में एकत्वबुद्धि हुए बिना संभव नहीं है।

चल भँवरे गुलाब की सुगन्ध लेने!

विष्टा पर रहनेवाले भँवरे को देखकर गुलाब के फूलों में बसने वाले भँवरे ने उससे कहा कि–' हे भँवरे! तू मेरी ही जाति का है, गुलाब की सुगन्ध लेने मेरे पास आ!' विष्टा का भँवरा विष्टा की दो गोलियाँ अपनी नाक में लेकर गुलाब के फूल पर जा बैठा। गुलाब के भँवरे ने उससे पूछा–'क्यों भाई! कैसी सुगन्ध आ रही है?' विष्टा के भँवरे ने उत्तर दिया–'मुझे तो कुछ भी सुगन्ध नहीं आती; वहाँ थी वैसी ही गन्ध है।' उसका यह उत्तर सुनकर गुलाब के भँवरे ने विचार किया कि ऐसा कैसे हो सकता है? उसकी नाक में देखा तो विष्टा की दो गोलियाँ दिखलायी दीं। 'अरे, विष्टा की दो गोलियाँ नाक में रखकर आया है, फिर सुगन्ध कहाँ से आये?'–ऐसा कहकर वे गोलियाँ निकलवा दीं कि तुरन्त ही वह विष्टा का भँवरा कहने लगा–'अहो! ऐसी सुगन्ध तो कभी नहीं ली! उसी प्रकार अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए अज्ञानी जीव से ज्ञानी कहते हैं कि–चल, तुझे तेरा सिद्धपद बतलाऊँ! तब वह अज्ञानी जीव रुचि में पुण्य-पाप की दो पकड़रूप गोलियाँ लेकर कभी-कभी ज्ञानी–तीर्थङ्कर के निकट धर्म सुनने जाता है, तो भी उसे पूर्व की मिथ्यावासना से जो विपरीत माना है, वैसा ही दिखायी देता है; परन्तु यदि एकबार बाह्यदृष्टि का आग्रह छोड़कर (–पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर), सरलता रखकर ज्ञानी का उपदेश सुने तो शुद्ध निर्मलदशा को प्राप्त हो जाये; उसे पुण्य-पाप की रुचिरूपी दुर्गन्ध का अनुभव छूटकर सिद्धपद की सुगन्ध का अपूर्व अनुभव हो। तब उसे ऐसा मालूम होगा कि अहो! ऐसा आत्मस्वभाव तो मैंने अभी तक कभी जाना भी नहीं था, कभी भी ऐसा अनुभव नहीं हुआ।

समयसार में श्री आचार्य भगवान कहते हैं कि – हे भव्य! हम तुझे तेरा शुद्ध आत्मस्वभाव बतलाते हैं, उसे तू जान!'

सुख

प्रत्येक जीव को सुख प्रिय है;–इस सम्बन्ध में किसी भी पूछना नहीं पड़ेगा। प्रत्येक कार्य में जीव सुख के लिए ही दौड़ धूप करता है। स्वर्ग के देव या नरक के नारकी, तिर्यंच या मनुष्य, त्यागी या साधु अथवा गृहस्थ इत्यादि सब सुख के लिए ही झुरते हैं; वह सुख कैसे हो? क्या बाह्य-पैसादि में से सुख आता होगा? तो कहते हैं कि नहीं; राग-द्वेषरूप भावकर्मों का नाश करने से वह सुख प्रगट होता है। भावकर्म का नाश करने से आठों प्रकार के द्रव्य-कर्म का नाश हो जाता है, और सर्वकर्मों का नाश होने से स्वतन्त्र सुख प्रगट होता है।

सुख बाहर से नहीं आता, परन्तु भीतर से ही प्रगट होता है। बाह्य में कहाँ सुख है? क्या शरीर-पिण्ड में सुख है? पैसे में या स्त्री में है? कहाँ है? बाह्य में तो धूल-जड़-दिखायी देता है, क्या जड़ में आत्मा सुख होता है? कदापि नहीं होता। लेकिन अज्ञानी जीव ने उन पर वस्तुओं में सुख की मिथ्या कल्पना की है। न तो पर में सुख है, न कभी पर में सुख देखा भी है, तथापि मूढ़ता से कल्पना की है। अयथार्थ को यथार्थ माने तो उससे कहीं परिभ्रमण का दुःख दूर नहीं होता। सुख-स्वभाव की खबर नहीं है, इससे स्वभाव से विरुद्ध भाव कर रहा है, और उस कारण आठ प्रकार के कर्म बँधते हैं, इससे आकुलता का उपभोग करता है, परन्तु यदि स्वभाव का भान करे और स्वभाव से विरुद्ध जो राग-द्वेष के भाव हैं, उनका नाश करे, तो सर्व कर्म दूर हो जायें और दुःख दूर होकर सुख हो। जो पर में से सुख लेना चाहता है, वह मूढ़ है।

जिसका जो स्वभाव हो, उसे वैसा ही–उसी प्रकार समझे तो वह प्रगट हो। जैसे–किसी को कानपुर जाना हो तो कानपुर का मार्ग जानना पड़ेगा; लेकिन 'मार्ग जानने का क्या काम है? ऐसे ही चलने लगे'–इस तरह कानपुर नहीं पहुँचा जा सकात।–यह तो दृष्टान्त है। उसी प्रकार सुख का उपाय जान ले तो सुख प्रगट हो, लेकिन सच्चा उपाय जाने बिना मिथ्याबल से सुख प्रगट नहीं होगा।

श्री शत्रुंजय सिद्धक्षेत्र की यात्रा

सौराष्ट्र में जगह-जगह विहार और धर्म-प्रभावना करके लौटते समय पूज्य श्री कानजीस्वामी श्री शत्रुंजय सिद्धक्षेत्र की यात्रा को पधारे थे और प्रथम अषाढ़ शुक्ला ४ के दिन मुमुक्षुसंघ सहित इस पवित्र सिद्धक्षेत्र की यात्रा की थी। संघ में अनेक ग्रामों के अनेक मुमुक्षु पधारे थे और संघसहित महान उल्लासपूर्वक यात्रा हुई थी।

श्री शत्रुंजय पर्वत पर युधिष्ठिर भीम, और अर्जुन- यह तीन पाण्डव तथा अन्य आठ करोड़ सन्त-मुनिवर मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। पाँच पाण्डवों को वैराग्य होने से श्री नेमिनाथ भगवान के पास दीक्षा लेकर मुनि होते हैं और शत्रुंजय पर्वत पर आकर ध्यान में लीन हो जाते हैं। उस समय दुर्योधन का भान्जा बैरबुद्धि से आकर उन्हें धधकते हुए लोहे के आभूषण पहनाता है, इससे उनका शरीर, जल जाता है। उस समय युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन–यह तीनों मुनिवर तो अन्तकृत केवली होकर मुक्ति प्राप्त करते हैं और देव उनका ज्ञान तथा निर्वाणकल्याणक मनाते हैं। नकुल तथा सहदेव–यह दो मुनिराज सर्वार्थसिद्धि विमान में उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार शत्रुंजय सिद्धक्षेत्र पाण्डवों का मुक्तिधाम है। इस पर्वत पर पाण्डवों ने शान्तिपूर्वक उपसर्ग सहन किया था। आज इस सिद्धक्षेत्र पर श्री शान्तिनाथ भगवान का मन्दिर है और पालीताना शहर में भी श्री शान्तिनाथ भगवान का मन्दिर है।

अषाढ़ शुक्ला ४ के दिन भक्तिपूर्वक इस गिरिराज की यात्रा हुई थीं। ऊपर के मन्दिर में लगभग डेढ़ घण्टे तक आध्यात्मिक भाव-भरी भक्ति और पूजनादि अत्यन्त उत्साहपूर्वक किये गये थे। अषाढ़ शुक्ला ५ के दिन शहर के जिन मन्दिर में भक्ति रखी गई थी।

भगवान श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला के

हिन्दी प्रकाशन

समयसार -प्रवचन (भाग-१)	[पू० श्री कानजीस्वामी कृत प्रवचन] मूल्य ६-०-०
समयसार -प्रवचन (भाग-२)	[समयसार-प्रवचन का दूसरा भाग कार्तिक शुक्ला १५ के पहले मँगाने वालों को ६-८-० के बदले मात्र ५-०-० में दिया जायेगा।]
समयसार -प्रवचन (भाग-३,४)	तैयार हो रहे हैं।
मोक्षशास्त्र-टीका	तैयार हो रहा है।
भेदविज्ञान सार	[पूज्य श्री कानजीस्वामी के धार्मिक महोत्सव के दिनों में समयसार पर प्रवचन] छप रहा है।
जैन बालपोथी	०-४-०
मुक्ति का मार्ग (सत्तास्वरूप पर प्रवचन)	०-१०-०
मूल में भूल (उपादान-निमित्त संवाद)	०-१२-०
वस्तुविज्ञान सार (जैन गीता)	जिज्ञासुओं को भेंट
नन्दीश्वर-द्वीप पूजन	०-१२-०
दशलक्षण-धर्म प्रवचन	०-१२-०
मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें (आत्मधर्म के ग्राहकों को भेंट)	१-२-०
प्रवचनसार (अक्षरशः हिन्दी अनुवाद)	६-८-०
आत्मधर्म की फाइलें	३-१२-०

[इस शास्त्रमाला की ५१ पुस्तकें प्रसिद्ध हो चुकी हैं। उपरोक्त पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य पुस्तकें गुजराती भाषा में हैं, उनका सूची पत्र मँगा सकते हैं।]

—: मिलने का पता :—

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचन्द रवाणी, शिष्टसाहित्य मुद्राणालय मोटा आंकड़िया (अमरेली)
प्रकाशक : जमनादास माणेकचन्द रवाणी, अनेकान्त मुद्राणालय मोटा आंकड़िया (अमरेली)